

ब्रह्मविद्योपनिषद् तथा शाण्डिल्योपनिषद् में विद्या का स्वरूप

—डॉ. मिथिलेश पाण्डेय

एसोशिएट प्रोफेसर, संस्कृतविभाग,
के. ए. (पी.जी.) कालेज, कासगंज,
उत्तर प्रदेश — 207123

'विद्या' शब्द की निष्पत्ति विद् धातु से क्यप् तथा टाप् प्रत्यय के योग से हुई है; जिसे ज्ञान, अवगम, शिक्षा, विज्ञान अथवा आत्मज्ञान के पर्याय के रूप में जाना जाता है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने 'विद्या' को परिभाषित करते हुए लिखा है—'वेत्ति यथावत् तत्त्वपदार्थस्वरूपं यथा सा विद्या'¹ अर्थात् जिससे पदार्थों के यथार्थ स्वरूप का बोध होवे, वह 'विद्या' कही जाती है; इसके विपरीत जिससे तत्त्वस्वरूप न जान पड़े, अन्य में अन्यबुद्धि होवे, वह 'अविद्या' कहलाती है—'यथा तत्त्वस्वरूपं न जानाति, भ्रमाद् अन्यस्मिन्नन्यनिश्चिनोति यथा साऽविद्या'² महर्षि पतंजलि ने 'अविद्या' को परिभाषित करते हुए लिखा है—'अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या'³ अर्थात् अनित्य संसार और देहादि में जो नित्य (कार्य जगत्) अशुचि में शुचि, दुःख में सुख तथा अनात्मा में आत्मबुद्धि देखी या सुनी जाती है; वहीं 'अविद्या' है। इस विद्या और अविद्या के यथार्थ स्वरूपज्ञान का फल यह है कि जो व्यक्ति विद्या और अविद्या के स्वरूप को साथ-साथ जानता है, वह 'अविद्या' अर्थात् कर्मोपासना से मृत्यु को पार करके 'विद्या' अर्थात् यथार्थज्ञान से 'मोक्ष' को प्राप्त होता है।⁴ इस प्रकार सुस्पष्ट है कि विद्या वह है, जो व्यक्ति को बन्धनों से मुक्त कर दे 'सा विद्या या विमुक्तये'। ऋषियों ने इसी विद्या के प्रकाश में अनन्त सच्चिदानन्द परब्रह्म का साक्षात्कार किया तथा कराया और इस विद्या को 'ब्रह्मविद्या' कहकर परमतत्त्व 'ब्रह्म' के साथ रहने वाले उसके सम्बन्ध को भी स्पष्ट कर दिया।

ध्यातव्य है, 'ब्रह्म' जिससे जाना जाता है; वहीं 'ब्रह्मविद्या' है।⁵ उपनिषदों में ज्ञान की दो श्रेणियाँ निर्दिष्ट की गई हैं। इनमें से एक को पराविद्या तथा दूसरी को 'अपराविद्या' कहा गया है।⁶ इसमें 'पराविद्या' ही 'ब्रह्मविद्या' के नाम से जानी जाती है। उपनिषदों में नाना प्रकार की जो अनेक आख्यायिकाएँ गुरु-शिष्य-संवाद के रूप में, विद्वानों के पारस्परिक प्रश्नोत्तर के रूप में तथा उपदेश के रूप में प्राप्त होती हैं; उन सब का उद्देश्य है, ब्रह्मविद्या की श्रेष्ठता तथा सर्वाधिक उपादेयता का प्रतिपादन करना। अनित्य वस्तुओं की ओर से पुरुषों में वैराग्य उत्पन्न करके ब्रह्मविद्या की ओर स्वतः उन्हें उन्मुख करना उनका लक्ष्य है। वस्तुतः आख्यायिकाएँ तो विद्याग्रहण की विधि प्रदर्शित करने के लिए तथा 'विधि' की प्रशंसा करने के लिए हैं, जैसे किसी जल को श्रेष्ठ बतलाने के लिए कह दिया जाए कि यहाँ का पानी तो राजा भी ग्रहण कर चुके हैं। इसके अतिरिक्त 'विद्या' की प्राप्ति का उपाय क्या है? यह दिखलाने के लिए भी आख्यायिका दी जाती है। सर्वदा अनादि अविद्या के विलास में विकसित तथा क्रिया, कारक और फलादिरूप से भासित होने वाले मिथ्या प्रपंच को 'विद्या' के द्वारा तिरोहित करके नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सच्चिदानन्द एकरस अद्वैतब्रह्म के रूप में अवस्थित होना ही परम पुरुषार्थ है। उसकी प्राप्ति में ही पुरुष की कृतकृत्यता है। इसके प्रतिपादन के लिए ही उपनिषदें प्रवृत्त होती हैं। यही निगूढ रहस्य 'विद्या' के द्वारा उद्घाटित होता है। ऐसी ब्रह्मविद्या चूँकि सर्वसाधारण के द्वारा गम्य नहीं है; अतएव इसके अधिकारी स्वल्प ही हैं। ब्रह्मविद्या को जानने के लिए श्रद्धा आदि की परम आवश्यकता होती है। गुरुवाक्य पर श्रद्धा के बिना इस 'विद्या' का अधिग्रहण सम्भव नहीं है।⁷ मुण्डकोपनिषद् में ब्रह्मविद्या के अधिकारी का लक्षण स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि क्रियावान्, श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ, श्रद्धायुक्त, एकर्षि नामक अग्नि में हवन करने वाले तथा जिन्होंने विधिपूर्वक शिरोव्रत का अनुष्ठान कर लिया हो; उसी को 'ब्रह्मविद्या' का उपदेश देना चाहिए।⁸

विद्या और अविद्या में अंतर— विद्या और अविद्या अर्थात् 'परा विद्या' और 'अपरा विद्या' के स्वरूप की सुस्पष्ट व्याख्या करती हुई मुण्डकोपनिषद् कहती है⁹ कि 'परा' और 'अपरा' (विद्या और अविद्या) इन दोनों में से जिसके द्वारा इहलौकिक तथा पारलौकिक भोगों और उनकी प्राप्ति के साधनों का ज्ञान प्राप्त किया जाता है; जिसमें भोगों की स्थिति, भोगों के उपभोग के प्रकार, भोगसामग्री की रचना और उनकी प्राप्ति के विविध उपायों का वर्णन है; वह तो 'अपरा' (अविद्या) के नाम से जानी जाती है; जैसे— ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। इन चारों वेदों में नाना प्रकार के यज्ञों की विधि का और उनके फल का विस्तार पूर्वक वर्णन प्राप्त होता है। जगत् के सभी पदार्थों का तथा विषयों का वेदों में भली-भाँति वर्णन किया गया है। यह अवश्य है कि इस समय वेद की समस्त शाखाएँ उपलब्ध नहीं हैं और उनमें वर्णित विविध विज्ञान संबंधी बातों को समझने वाले भी नहीं हैं।

वेदों का पाठ अथात् उच्चारण करने की विधि का उपदेश 'शिक्षा' है। जिसमें यज्ञ-यागादि की विधि बतलाई गई है, उसे 'कल्प' कहते हैं। वैदिक और लौकिक शब्दों के अनुशासन का ज्ञान अर्थात् प्रकृति-प्रत्यय के विभाग पूर्वक शब्दसाधन की प्रक्रिया, शब्दार्थबोध के प्रकार तथा शब्दप्रयोग आदि के नियमों के उपदेश का नाम 'व्याकरण' है। वैदिक शब्दों का जो कोश है; जिसमें अमुक पद, अमुक वस्तु का वाचक है; यह बात कारण सहित बतलाई गई है, उसको

'निरुक्त' कहते हैं। वैदिक छन्दों की जाति और भेद बतलाने वाली विद्या 'छन्द' कहलाती है। ग्रहों और नक्षत्रों की स्थिति, गति और उनके साथ हमारा क्या सम्बन्ध है; इन सब बातों पर, जिसमें विचार किया गया है; वह 'ज्योतिष' विद्या है। इस प्रकार चार वेद और छह वेदांग ये दस 'अपरा विद्या' कही जाती हैं और जिसके द्वारा परब्रह्म अविनाशी परमात्मा का तत्त्वज्ञान होता है; वह 'परा विद्या' कही जाती है। इस 'परा विद्या' का भी वर्णन वेदों में ही प्राप्त होता है। अतः वेदों के जितने अंशों में परा विद्या का वर्णन है, उतने अंशों को छोड़कर अन्य समस्त वेदों तथा वेदांगों को 'अपरा विद्या' (अविद्या) के अंतर्गत समझना चाहिए।

परापररूप विद्या और अविद्या इन दोनों विद्याओं की प्राप्ति का फल बतलाती हुई ईशावास्योपनिषद् कहती है¹⁰ कि जो मनुष्य भोगों में आसक्त होकर उनकी प्राप्ति के साधनरूप अविद्या का (विविध कर्मों का) अनुष्ठान करते हैं; वे उन कर्मों के फलस्वरूप अज्ञानान्धकार से परिपूर्ण विविध योनियों और भोगों को ही प्राप्त होते हैं; ऐसे मनुष्य जीवन के परमलक्ष्य परब्रह्म परमेश्वर को न पाकर निरन्तर जन्म-मृत्यु रूपी संसार-प्रवाह में पड़े हुए विविध संतापों से संतप्त होते रहते हैं। इसके अतिरिक्त जो मनुष्य न तो अन्तःकरण की शुद्धि के लिए कर्तापन के अभिमान से रहित कर्मों का अनुष्ठान करते हैं और न ही विवेक, वैराग्य आदि ज्ञान के प्राथमिक साधनों का ही सेवन करते हैं, अपितु केवल शास्त्रों को पढ़-सुन करके ही अपने ऊपर 'विद्या' का मिथ्या आरोप करके ज्ञानाभिमानी बन बैठते हैं, ऐसे मिथ्याज्ञानी मनुष्य अपने को ज्ञानी मानकर 'हमारे लिए कोई कर्तव्य कर्म नहीं है' ऐसा कहते हुए कर्तव्यकर्मों का त्याग कर देते हैं और इन्द्रियों के वशवर्ती होते हुए शास्त्रों के प्रतिकूल मनमाना आचरण करने लगते हैं। इससे वे लोग सकामभाव से कर्म करने वाले विषयासक्त मनुष्यों से भी तीव्रतर अन्धकार (पशु-पक्षी, शूकर आदि निम्न योनियों) को और रौरव, कुम्भीपाक आदि घोर नरकों को प्राप्त होते हैं। इसके विपरीत नित्यानित्यवस्तु का विवेक, क्षणभंगुर विनाशशील अनित्य इहलौकिक तथा पारलौकिक भोगसामग्रियों और पूर्णब्रह्म के चिन्तन में अखण्ड संलग्नता से परब्रह्म पुरुषोत्तम का यथार्थज्ञान होता है, तदन्तर उनकी प्राप्ति होती है।¹¹ ज्ञानाभिमान में आसक्त स्वेच्छाचारी मनुष्यों को दुर्गातिरूपी जो फल मिलता है; उससे यथार्थज्ञान का सर्वोत्तम फल सर्वथा भिन्न तथा विलक्षण है।¹²

कर्म और अकर्म का वास्तविक रहस्य समझने में बड़े-बड़े बुद्धिमान पुरुष भी भूल कर बैठते हैं।¹³ इसी कारण कर्म के रहस्य से अनभिज्ञ ज्ञानाभिमानी मनुष्य कर्म को ब्रह्मज्ञान में बाधक समझ लेते हैं और अपने वर्णाश्रमोचित कर्तव्यकर्मों का त्याग कर देते हैं, परन्तु इस प्रकार के त्याग से उन्हें त्याग का यथार्थफल (कर्मबन्धन से मुक्ति) नहीं मिलती।¹⁴ इसी प्रकार ज्ञान का तत्त्व न समझने के कारण मनुष्य अपने को ज्ञानी तथा संसार से ऊपर उठा हुआ मान लेता है। अतः वह या तो अपने आप को पुण्य-पाप से अलिप्त मानकर मनमाने कर्माचरण में प्रवृत्त हो जाता है या कर्मों को भाररूप समझकर उन्हें छोड़ देता है और आलस्य, निद्रा तथा प्रमाद में अपने दुर्लभ मानवजीवन के अमूल्य-समय को नष्ट कर देता है। इन दोनों प्रकार के अनर्थों से बचने का एकमात्र उपाय कर्म और ज्ञान के रहस्य को साथ-साथ समझकर उनका यथोचित अनुष्ठान करना है। इसीलिए ईशावास्योपनिषद्¹⁵ में कहा गया है कि जो मनुष्य अविद्या और विद्यास्वरूप इन दोनों तत्त्वों को एक ही साथ भली-भाँति समझ लेता है, वह अपने वर्णाश्रम और परिस्थिति के अनुरूप शास्त्रविहित कर्मों का स्वरूपतः त्याग नहीं करता है, अपितु उनमें कर्तापन के अभिमान से तथा राग-द्वेष और फलकामना से रहित होकर उनका यथोचित आचरण करता है। इससे उसकी जीवनयात्रा भी सुखपूर्वक चलती है और इस भाव से कर्मानुष्ठान करने के फलस्वरूप उसका अन्तःकरण समस्त दुर्गुणों एवं विकारों से रहित होकर निर्मल हो जाता है और यथार्थज्ञान का उदय होने पर परब्रह्म का साक्षात्कार कर लेता है।

इस प्रकार सुस्पष्ट है कि विद्या का तात्पर्य उस शक्ति से है; जिससे हमें किसी वस्तु के यथार्थस्वरूप का ज्ञान होता है। वेदान्तमत में चूँकि सभी चेतन वस्तुएँ ब्रह्म की ही प्रतिबिम्ब हैं; अर्थात् ब्रह्म ही एकमात्र सद्ब्रह्म है। अतः यह कहा जा सकता है कि वह विवेकज्ञान, जो हमें प्रत्येक वस्तु में ब्रह्म का दर्शन करा दे; जिसके उदय होने से चराचर जगत् की सभी वस्तुएँ ब्रह्ममय दिखई देने लगें; वही 'विद्या' है। इसके विपरीत वह शक्ति जो ब्रह्म के स्वरूप को आच्छादित करती हुई विभिन्न वस्तुओं को भिन्न-भिन्न रूपों में उपस्थापित करके जगत्-प्रपंच का सृजन करती है; वह 'अविद्या' कही जाती है।

आचार्य शंकर ने विद्या के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—'तमेतमेवं लक्षणमध्यासं पण्डिता अविद्येति मन्यन्ते; तद्विवेकेन च वस्तुस्वरूपावधारणं विद्यामाहुः।'¹⁶ अर्थात्— विद्वानों ने अध्यास को ही अविद्या के रूप में परिभाषित किया है तथा विवेक द्वारा वस्तुस्वरूप के निश्चय को ही 'विद्या' कहा है। यह 'विद्या' चूँकि ब्रह्म के स्वरूप को उद्घाटित करती है; अतः इसे 'ब्रह्मविद्या' भी कहा जाता है। ध्यातव्य है कि उपनिषदों में जो प्राण आदि उपासनाओं का वर्णन है; वह चित्त की एकाग्रता और शुद्धि द्वारा जीवन तथा ब्रह्म के अभेदज्ञान में सहायक होने से 'ब्रह्मविद्या' अथवा 'विद्या' ही है।

ब्रह्मविद्या के विविध रूप— प्रतिपादनपद्धति, ज्ञातव्य विषय तथा परम्परा आदि के भेद से 'ब्रह्मविद्या' के अनेक रूप परिलक्षित होते हैं, जो विविध उपनिषदों में तथा एक ही उपनिषद् के विविध भागों में परिगृहीत होकर साधकों के लिए प्रत्यक्ष भी हुए हैं; तथापि 'ब्रह्मविद्या' के इन विविध रूपों के अन्तस्तल में रहने वाली स्वरूपगत एकता मिट न सकी, अपितु सुस्थिर बनी रही। उपनिषदों में मुख्यरूप से ब्रह्मविद्याओं के बत्तीस स्वरूप प्राप्त होते हैं, जो निम्नलिखित हैं—

1. सद्विद्या¹⁷ : परब्रह्म ही अपने संकल्पनानुसार सबका कारण है।
2. आनन्दविद्या¹⁸ : परब्रह्म ही कल्याण-गुणाकर वैभव-संपन्न आनन्दमय है।
3. अन्तरादित्यविद्या¹⁹ : आदित्य ही परब्रह्म है। परब्रह्म का रूप दिव्य है।
4. आकाशविद्या²⁰ : परब्रह्म ही उपाधिरहित होकर सबका प्रकाशक है।
5. प्राणविद्या²¹ : परब्रह्म ही चराचर के प्राणरूप में प्रतिष्ठित है।
6. गायत्रीविद्या²² : गायत्री में ही समस्त प्राणिजगत् प्रतिष्ठित है।
7. इन्द्रप्राणविद्या²³ : परब्रह्म ही इन्द्र, प्राण आदि समस्त जीवों की आत्मा है।
8. शाण्डिल्यविद्या²⁴ : प्रत्येक पदार्थ की सत्ता, स्थिति एवं यत्न ब्रह्म के ही अधीन है।
9. हंसविद्या²⁵ : परब्रह्म ही सभी प्राणियों की आत्मा में हंस रूप से प्रतिष्ठित है।
10. नाचिकेतस्विद्या²⁶ : ब्रह्म में समस्त जगत् को अपने अंदर लीन कर लेने की सामर्थ्य है।
11. उपकोशलविद्या²⁷ : ब्रह्म की नित्यस्थिति नेत्र में है।
12. सर्वान्तरविद्या²⁸ : आत्मा ही सर्वान्तर है।
13. अक्षरविद्या²⁹ : ब्रह्म के विराट् रूप की कल्पना में अग्नि आदि अंग बनकर रहते हैं।
14. वैश्वानरविद्या³⁰ : वह परब्रह्म ही वैश्वानर रूप में स्वर्लोक, आदित्य आदि का अंगी है।
15. भूमाविद्या³¹ : परब्रह्म अनन्त ऐश्वर्य-सम्पन्न है।
16. गार्ग्यक्षरविद्या³² : परब्रह्म ही सर्वनियन्ता है।
17. प्रणवोपास्यपरमपुरुषविद्या³³ : परब्रह्म मुक्तपुरुषों का भोग्य है।
18. ऊँकारविद्या³⁴ : ऊँ ही ब्रह्मरूप में प्रतिष्ठित है।
19. अंगुष्ठप्रमितविद्या³⁵ : परब्रह्म ही अन्तर्यामी रूप से सबके हृदय में विराजमान है।
20. देवोपास्यज्योतिर्विद्या³⁶ : परब्रह्म सभी देवों का उपास्य है।
21. मधुविद्या³⁷ : परब्रह्म ही वसु, रुद्रादित्यादि साध्यों की आत्मा के रूप में उपास्य है।
22. संवर्गविद्या³⁸ : अधिकारानुसार परब्रह्म सबका उपास्य है।
23. अजाशरीरकविद्या³⁹ : परब्रह्म ही प्रकृतितत्त्व का नियन्ता है।
24. बालाकिविद्या⁴⁰ : समस्त जगत् ब्रह्म का कार्य है।
25. मैत्रेयी विद्या⁴¹ : ब्रह्म का साक्षात्कार मोक्ष का साधन है।
26. षोडशकलाविद्या⁴² : परब्रह्म ही षोडशकलात्मक रूप में प्रतिष्ठित है।
27. पंचाग्निविद्या⁴³ : सांसारिक बंधनों से मुक्ति ब्रह्म के अधीन है।
28. आदित्यस्थार्हनामकविद्या⁴⁴ : परब्रह्म आदित्यमण्डलस्थ है।
29. अक्षिस्थार्हनामकविद्या⁴⁵ : परब्रह्म ही पुण्डरीकाक्ष है।
30. पुरुषविद्या⁴⁶ : परब्रह्म ही परमपुरुष (पुरुषोत्तम) कहा जाता है।
31. ईशावास्यविद्या⁴⁷ : परब्रह्म कर्मसहित उपासनात्मक ज्ञान के द्वारा प्राप्त होता है।
32. उषस्तिकहोलविद्या⁴⁸ : 'ब्रह्म' क्षुधा, पिपासा, शोक, मोह, जरा और मृत्युरहित है।

यहाँ पर उपनिषद् प्रतिपाद्य कुछ प्रमुख विद्याओं का विवेचन निम्नलिखित है—

1. ब्रह्मविद्या— शाण्डिल्योपनिषद् का दूसरा तथा तीसरा अध्याय पूर्णरूप से ब्रह्मविद्या विषयक ही है। ब्रह्मर्षि शाण्डिल्य ने चारों वेदों के अध्ययन के पश्चात् भी ब्रह्मविद्या के रहस्य को न जान सकने के कारण भगवान् अथर्वा की शरण में जाकर अत्यन्त श्रद्धापूर्वक विनयावनतभाव से पूछा, हे भगवन्! मुझे ब्रह्मविद्या का उपदेश दीजिये; जिससे मेरा कल्याण हो। ऐसा सुनकर महर्षि अथर्वा ने कहा, " हे शाण्डिल्य! जिस ब्रह्म के विषय में तुम जानना चाहते हो; वह ब्रह्म सत्य, विज्ञान तथा अनन्त स्वरूप वाला है; जिसमें यह सब कुछ ओत-प्रोत है। सम्पूर्ण जगत् जिसमें उदय तथा अस्त होता है और जिसे जान लेने से यह अखिल ब्रह्माण्ड जान लिया जाता है; वही ब्रह्म है। वह 'ब्रह्म' हाथ-पैर रहित, चक्षुरहित, श्रवणरहित, जिह्वारहित, शरीररहित, अग्राह्य तथा अनिर्देश्य है। यह वह ब्रह्म है, जिसका वर्णन करने में वाणी भी अपने को असमर्थ पाती है और उसे प्राप्त किए बिना ही मन के साथ पीछे लौट जाती है।⁴⁹ इसे एकमात्र ज्ञान से ही प्राप्त किया जा सकता है। प्राचीन-प्रज्ञा इसी से प्रसृत हुई है। यह ब्रह्म एक तथा अद्वितीय होने के साथ-साथ आकाशवत् सर्वव्यापी, अत्यन्त सूक्ष्म, निरंजन, निष्क्रिय, सच्चिदानन्दस्वरूप, एकरस, मंगलमूर्ति, अत्यन्त शान्त तथा अमर है। ज्ञान के द्वारा तुम इसी ब्रह्म को जानो। जो एक ही देव आत्मा की शक्ति के रूप में मुख्य, सर्वज्ञ, सर्वेश्वर, सर्वभूतान्तरात्मा, सर्वभूताधिवास,

तथा भूतों का मूल उत्पत्तिस्थान, एकमात्र योगजज्ञान द्वारा ज्ञातव्य, विश्व की सृष्टि, रक्षा तथा संहार करने वाला है; वही आत्मरूप ब्रह्म है। अतः अखिल ब्रह्माण्ड को तुम आत्मा में ही समाहित हुआ समझो। इस आत्मा का विशिष्ट ज्ञान प्राप्त करके तू शोकसागर को पार कर जावेगा। अतः तू शोक मत कर।⁵⁰

हे शाण्डिल्य! परब्रह्म यद्यपि क्रियारहित तथा अक्षर है, फिर भी इस ब्रह्म के तीन स्वरूप हैं; जो सकल, निष्कल तथा सकलनिष्कल के नाम से जाने जाते हैं। इनमें ब्रह्म का वह स्वरूप, जो सत्य, विज्ञान, आनन्द, क्रियाशून्य, निरंजन, सर्वव्यापी, अत्यन्त सूक्ष्म, सर्वतोमुख, अनिर्देश्य तथा अमर है; वह 'निष्कलरूप' है। इस ब्रह्म की जो सहज अविद्या, मूलप्रकृति तथा माया है; वह लाल, श्वेत और काली है; उसी की सहायता पाकर यह देव काला और पीला होकर मेरा और सबका ईश्वर रूप से नियन्ता हो जाता है। यही इस ब्रह्म का 'सकलनिष्कल' रूप है।

अपने 'सकलरूप' को उपस्थापित करने की इच्छा से इस ब्रह्म ने ज्ञानमय तप से वृद्धि को प्राप्त करने के अनन्तर इच्छामात्र से समस्त कामनाओं वाले तीन अक्षरों, तीन आकृतियों, तीनपदों (गायत्री), तीन वेदों, तीन देवों, तीन वर्षों तथा तीन अग्नियों को आविर्भूत किया। जो यह देव भगवान् होकर समस्त ऐश्वर्यों से युक्त, सर्वव्यापी, सभी प्राणियों के शरीर में रहने वाला, मायावी तथा माया के साथ क्रीडा करता है; वही ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, इन्द्र तथा समस्त देवों और प्राणियों के रूप में होता है। वही आगे, वही पीछे, वही उत्तर, वही दक्षिण, वही नीचे तथा वही ऊपर की ओर होता है। वह देव अपनी शक्ति के साथ क्रीडा करने वाला और भक्तों के ऊपर दया करने वाला है। इसका शरीर दत्तात्रेयरूप सुन्दर, कमल की पंखुड़ी के समान कोमल, चार भुजाओं वाला, भयंकरता-रहित तथा निष्पाप होकर प्रकाशित होता है। यही ब्रह्म का 'सकलरूप' है।⁵¹

यह ब्रह्म चूँकि स्वयं वृद्धि को प्राप्त होता है और दूसरे को वृद्धि प्रदान करता है। अतः परब्रह्म के नाम से जाना जाता है। चूँकि यह सबमें व्याप्त रहता है, सबको ग्रहण करता है और सबको खा जाता है; अतः यह आत्मा कहा जाता है। इसे महेश्वर भी कहा जाता है; क्योंकि यह शब्द, ध्वनि तथा आत्मशक्ति से सबका नियन्ता तथा ईश्वर है। इसे दत्तात्रेय इसलिए कहा जाता है; क्योंकि अत्यन्त दुस्तर तपश्चर्या के द्वारा महर्षि अत्रि ने ब्रह्म को अपने पुत्ररूप में प्राप्त करने की इच्छा प्रकट किया, तब उनके ऊपर अत्यन्त प्रसन्न होकर ज्योतिर्मय भगवान् ने अपना ही स्वरूप उन्हें पुत्ररूप में प्रदान करते हुए अत्रि तथा अनसूया से जन्म ग्रहण किया। इन सार्थक नामों से युक्त ब्रह्म को जो व्यक्ति जानता है, वह सब कुछ जानता है तथा जो विद्या के द्वारा 'अहं ब्रह्मास्मि' की अनुभूति करता है; वह ब्रह्मवेत्ता बन जाता है। इस प्रकार मंगलमय, शान्तस्वरूप वाले सनातन ब्रह्म का निरन्तर ध्यान करने से ब्रह्मभाव की प्राप्ति होती है।⁵²

ब्रह्मविद्योपनिषद् का कथन है कि शब्द जिसमें लय को प्राप्त होता है, उसे परब्रह्म कहा गया है तथा जो बुद्धि 'ब्रह्म' में लीन हो जाती है; वह अमृतस्वरूप कही गयी है। वायु, तेज तथा आकाश के भेद से तीन प्रकार के जीव बतलाये गये हैं। इस जीव का प्रमाण (आकार) बाल के नोक का सौवाँ भाग कल्पित किया गया है। यह पूर्ण, शब्द, निर्मलतत्त्व नाभिस्थान में स्थित है; जो सूर्य के समान समस्त विश्व को प्रकाशित करता हुआ कल्याणरूप में अवस्थित है।⁵³ प्रभुतासम्पन्न यह तत्त्व सर्वत्र व्याप्त रहता है। मन भले ही अन्यत्र चला जाय; नेत्र भले ही अन्यत्र देखता रहे; परन्तु योगियों का योग अविच्छिन्न भाव से चलता रहता है। ब्रह्मसम्बन्धी इस रहस्य को गुह्य से गुह्य बतलाया गया है। यही सर्वाधिक शुभ तत्त्व है। इससे बढ़कर और इससे अधिक शुभ अन्य कुछ भी नहीं है। अतः शुद्ध ज्ञानामृत तत्त्व को प्राप्त करके परम अक्षर-तत्त्व का निर्णय करना चाहिए और गुह्यतम इस ब्रह्मतत्त्व को प्रयत्नपूर्वक ग्रहण करना चाहिए।⁵⁴

ध्यातव्य है कि यह 'ब्रह्मविद्या' न तो पुत्र को देनी चाहिए, न शिष्य को; यह उसी को प्रदान करना चाहिए जो गुरु का सच्चा भक्त हो तथा नित्य भक्तिपरायण रहता हो। इसके अतिरिक्त किसी अन्य के प्रति इस विद्या का उपदेश नहीं करना चाहिए; यदि कोई करता भी है, तो वह समस्त सिद्धियों से रहित होकर अन्ततः नरकगामी होता है। ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासी कोई भी हो और कहीं भी हो; परम अक्षरतत्त्व को जानने वाला सदैव ज्ञानी ही होता है। यदि कोई विषयी विषयासक्त हो, तो भी इस ब्रह्मज्ञान से वह परमपद को प्राप्त कर लेता है।⁵⁵

2. ऊँकारविद्या—ओम् को परिभाषित करते हुए स्वामी दयानन्दसरस्वती ने लिखा है, 'अवतीयत्योम्'⁵⁶ अर्थात् वह सबकी रक्षा करता है; अतः 'ओम्' कहा जाता है। प्रश्नोपनिषद्⁵⁷ छान्दोग्योपनिषद्⁵⁸ माण्डूक्योपनिषद्⁵⁹ तैत्तिरीयोपनिषद्⁶⁰ श्वेताश्वतरोपनिषद्⁶¹ नादबिन्दूपनिषद्⁶² नारदपरिव्राजकोपनिषद्⁶³ तथा प्रणवोपनिषद्⁶⁴ में ऊँकारविद्या की विस्तृत व्याख्या प्राप्त होती है। यहाँ पर ध्यातव्य है कि ब्रह्मविद्योपनिषद् के प्रारम्भिक 13 मन्त्र 'प्रणवोपनिषद्' के नाम से जाने जाते हैं।

ब्रह्मविद्या की सारभूत 'ओंकारविद्या' को उपस्थापित करती हुई ब्रह्मविद्योपनिषद्⁶⁵ कहती है, "जिस ब्रह्म को ऊँकार के एक अक्षर⁶⁶ के रूप में ब्रह्मज्ञानियों ने बतलाया है; उस ऊँ में तीन देवता (ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र), तीन लोक (पृथ्वीलोक, आकाशलोक, मृत्युलोक), तीन वेद (ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद) तथा तीन अग्नियाँ (गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि तथा आहवनीय) बतलायी गयी हैं। इस शिवस्वरूप अक्षर (ऊँ) की कुल तीन और आधी (साढ़े तीन) मात्राएँ हैं। ब्रह्मज्ञानियों ने 'अ' का शरीर ऋग्वेद, गार्हपत्याग्नि, पृथ्वीतत्त्व और ब्रह्मा को बतलाया है। 'उ' का शरीर यजुर्वेद, दक्षिणाग्नि, आकाशतत्त्व और विष्णु बतलाये गये हैं। जबकि 'म' के शरीर के रूप में सामवेद, आहवनीयाग्नि, स्वर्ग तथा परमेश्वर (रुद्र) को बतलाया गया है। शंख के मध्य 'अ'कार सूर्यमण्डल के मध्य स्थित है। चन्द्र के समान 'उ'कार उसी चन्द्र में स्थित है। निर्धूम अग्नि और बिजली में 'म'कार को समझना चाहिए। इस प्रकार तीनों मात्राएँ सूर्य, चन्द्र और अग्नि के रूप में प्रतिष्ठित हैं। जिस प्रकार दीपक की शिखा उसके ऊपर रहती है, उसी प्रकार प्रणव (ऊँ) के ऊपर अर्धमात्रा की स्थिति को समझना चाहिए। काँसे के घण्टे का 'शब्द' जिस प्रकार शान्ति में विलीन हो जाता है, उसी प्रकार ऊँकार की योजना द्वारा व्यक्ति की समस्त इच्छाएँ शान्त हो जाती हैं।

दोनों भृकुटियों के मध्य में जो रुद्रग्रन्थि है, उसका अक्षर वायु (ऊँ) द्वारा भेदन करना चाहिए। ऊँकार के अंगभूत 'अ'कार में ब्रह्मा; 'उ'कार में विष्णु तथा 'म'कार में रुद्र का स्थान है। उसके अन्त में परात्पर है। रुद्रग्रन्थि के भेदनहेतु कण्ठसंकोच करके नाड़ी आदि शक्तियों को स्तम्भित करना चाहिए, फिर जिह्वा को दबाकर ऊर्ध्वगामिनी सोलह नाड़ियों को तीन प्रकार की त्रिकुटी वाली, ब्रह्मरन्ध्र को जाने वाली अत्यन्त सूक्ष्म सुषुम्नानाड़ी को तथा त्रिशंख, वज्र, ओंकारयुक्त, ऊर्ध्वनाल भृकुटियों की तरफ जाने वाली कुण्डलिनी शक्ति और प्राणों को संचालित करके शशिमण्डल का भेदन करना चाहिए।⁶⁷ ऐसा करने वाले साधक को अपने ही अन्तस्तल में ब्रह्मस्थान में 'ऊँकार' ध्वनि सुनायी देने लगती है और शान्तिनाड़ी से अमृत की वर्षा होने लगती है। इस प्रकार षट्चक्रमण्डल के भेदने से ज्ञानदीपक प्रज्वलित हो जाता है।⁶⁸

'प्रणव' (ओम्) की महिमा का गुणगान करती हुई शाण्डिल्योपनिषद्⁶⁹ कहती है। कि 'प्रणव' ही प्राणायाम है⁷⁰ क्योंकि रेचक, पूरक तथा कुम्भक के भेद से त्रिविध प्राणायाम वर्णरूप ही हैं। पद्मासन आदि किसी भी आसन को लगाकर नासाग्र पर चन्द्रमण्डल की ज्योत्स्ना से लिपटी हुई लाल अंगों वाली, हंस पर बैठी हुई और हाथ में दण्ड धारण करने वाली अकारमूर्ति गायत्री; श्वेत अंगों वाली, गरुड पर बैठी हुई, हाथ में चक्र धारण करने वाली उकारमूर्ति सावित्री तथा कृष्ण अंगों वाली, वृषभ पर बैठी हुई हाथ में त्रिशूल धारण करने वाली मकारमूर्ति सरस्वती का ध्यान करना चाहिए; क्योंकि अकार, उकार तथा मकार यही तीनों वर्ण ऊँकार हैं और यह एकाक्षर ऊँकार ही सबका कारण तथा परमज्योति है।

प्राणायाम की मुद्रा में इडा नाड़ी द्वारा बाहर की वायु को अकार का ध्यान करते हुए 16 मात्रापर्यन्त खींचना चाहिए, तदन्तर उकार का ध्यान करते हुए 64 मात्रापर्यन्त कुम्भक की स्थिति में प्राणवायु को अन्दर ही रोके रहना चाहिए और उसके पश्चात् मकार का ध्यान करते हुए रेचक के रूप में 32 मात्रापर्यन्त अन्दर की वायु को बाहर निकालना चाहिए।

इस प्रकार बिना परिश्रम के पूरक आदि वायु के दृढ़ अभ्यास और एकान्त ध्यानयोग करने से मन की गति क्षीण हो जाती है। अर्थात् धीरे-धीरे मन की एकाग्रता बढ़ती जाती है और मन पूर्णतः वश में हो जाता है। ऐसी स्थिति में ऊँ के उच्चारण के अन्त में शब्दतत्त्व का अनुभव होने से ज्ञान द्वारा सुषुप्ति का रूप समझ लिया जाता है; तब प्राण की गति पर साधक का नियन्त्रण हो जाता है।⁷⁰

3. हंसविद्या— शाण्डिल्योपनिषद् में प्राणायाम के रूप में हंसविद्या का विस्तृत विवेचन होने के बाद भी अक्षरशः 'हंस' का उल्लेख या विवेचन नहीं मिलता है, लेकिन ब्रह्मविद्योपनिषद् में इस विद्या का विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है। नादबिन्दूपनिषद्⁷¹ में ऊँकार (प्रणव) को ही हंस रूप में उपस्थापित किया गया है। इस विवरण के अनुसार, 'अ'कार ही प्रणवरूपी हंस का दक्षिणपक्ष (पंख), 'उ'कार ही वामपक्ष तथा 'म'कार ही पूँछ है। शिखारूप में वर्तमान अर्धमात्रा ही 'हंस' का शिर है। धर्म उसका दक्षिणनेत्र तथा अधर्म वामनेत्र है। उसके दोनों पैरों में भूर्लोक, दोनों जानुओं में भुवर्लोक, कटि में स्वर्लोक, नाभिदेश में महर्लोक, हृदय में जनःलोक, कण्ठदेश में तपःलोक तथा भौहों और ललाट के बीच में सत्यलोक व्यवस्थित है। इस प्रकार से वर्णित ओंकार रूपी 'हंस' के चिन्तन में निमग्न हुआ तथा हंसयोग को जानने वाला व्यक्ति कर्मानुष्ठानों में संलग्न होते हुए भी सभी पापों से छूटकर बन्धनमुक्त हो जाता है।

ब्रह्मविद्योपनिषद्⁷² के अनुसार, प्राणवायु के रूप में जीव सैदव सकार तथा हकार के रूप में 'हंस' का जप करता है। नाभिरन्ध्र से किला हुआ यह जप सर्वथा विषयों से रहित है। दूध से निकले हुए घी के समान इस 'हंस' रूपी निष्कलतत्त्व को पाँच प्राणायामों द्वारा जानना चाहिए। मथने वाले दण्ड से जिस प्रकार दूध को मथा जाता है, उसी प्रकार

हृदय में स्थित चतुष्कलतत्त्व को देह में भ्रमण कराया जाता है। तब इसमें महापक्षी (जीव) शीघ्र ही वास करता है। जब श्वास की गति पर विजय प्राप्त हो जाती है, तब यह जीव निष्कल हो जाता है। आकाशस्थित इस निष्कलतत्त्व के ध्यानमात्र से व्यक्ति भवबन्धन से छूट जाता है। हृदयस्थित अनाहतध्वनियुक्त इस प्रकाशयुक्त चिदानन्द 'हंस' को जो व्यक्ति जानता है; वास्तव में वही 'हंस' (ब्रह्म) को जानता है तथा 'हंस' कहा जाता है। जो ज्ञानी पुरुष रेचक और पूरक को त्यागकर कुम्भक में स्थित होते हुए प्राण और अपान को एक करके मस्तक में स्थित अमृततत्त्वको सादर ध्यानपूर्वक पीता है और नाभि के मध्य दीपक की तरह सुप्रकाशित महादेव पर अमृत का सिंचन करते हुए हंस-हंस का जप करता है; उसे पृथ्वी पर रहते हुए जरा-मरण रोगादि नहीं होते और सिद्धियों तथा विभूतियों की प्राप्ति होती रहती है। जो व्यक्ति सदैव इसके अभ्यास में लगा रहता है; उसे ईश्वरत्व की प्राप्ति हो जाती है। इसी मार्ग का आश्रय लेते हुए अब तक अनेक व्यक्ति नित्यपद को प्राप्त कर चुके हैं।

देह में स्थित तत्त्व को समल (हंस) तथा देहवर्जित तत्त्व को निष्कल (हंस) जानना चाहिए। आप्तगुरु के उपदेश से विदित होने वाला यह तत्त्व सर्वत्र समभाव से स्थित है। जो व्यक्ति 'हंस-हंस' ऐसा जप करता है; वह ब्रह्मा, विष्णु, और महादेव का ही रूप है। जिस प्रकार तिलों में तेल और पुष्प में गन्ध रहती है; उसी प्रकार पुरुष के शरीर में बाहर और भीतर वही ब्रह्मतत्त्व रहता है।⁷³

इस प्रकार प्राणियों की देह में अच्युतरूप 'हंस' सदैव स्थित रहता है। हंस ही परमसत्य है और हंस ही शक्तिस्वरूप है। हंस ही परमवाक्य है; हंस ही समस्त वेदों का सार है; हंस ही परमरुद्र है और हंस ही परात्पर है। समस्त देवताओं के मध्य में हंस ही परमेश्वर है। पृथ्वी से लेकर शिवतत्त्व-पर्यन्त तथा अकार से लेकर मकारपर्यन्त 'हंस' ही मात्राओं की तरह व्यवस्थित है। इस हंस की ही अनुपम ज्योति देवताओं के मध्य में स्थित है। अतः दक्षिणाभिमुख होकर ज्ञानमुद्रा से युक्त समाधि की अवस्था में हंस का स्मरण करते हुए निर्मल स्फटिकमणिवत् उत्तम तथा दिव्य हंसरूप का ध्यान करना चाहिए।⁷⁴ इस प्रकार उस सर्वव्यापी निरंजन के दिव्यस्वरूप का दर्शन करके हंस-हंस का जप करना चाहिए। प्राणियों की देह में स्थिति प्राण और अपान की ग्रन्थि को 'अजपा' कहा जाता है। इससे नित्यप्रति इक्कीस हजार छः सौ जप करता हुआ हंस 'सोऽहं' रूप हो जाता है।⁷⁵

इस हंसविद्या के अन्तर्गत साधक को सदैव कुण्डलिनी के पूर्व में अधोलिंग का; शिखा स्थान में पश्चिमलिंग का तथा दोनों भृकुटियों के मध्य में ज्योतिर्लिंग का ध्यान करना चाहिए।⁷⁶

इस हंसविद्या रूपी अमृत के समान इस जगत् में नित्यत्व का कोई अन्य साधन नहीं है। जो व्यक्ति इस हंस नामक परमेश्वरी विद्या को देता है; उसकी सदैव ध्यानपूर्वक सेवा करनी चाहिए। गुरु जो कुछ शुभाशुभ आदेश देवे, उसका पालन शिष्य को श्रद्धापूर्वक करना चाहिए। इस प्रकार इस हंसविद्या को गुरु से प्राप्त करके आत्मा से आत्मा का साक्षात्कार करके निश्चलब्रह्म को जान करके, वर्णाश्रम, जाति आदि के सम्बन्ध में और वेदों तथा शास्त्रों की बातों को निःसंकोचभाव से छोड़कर श्रद्धापूर्वक गुरु की सेवा करते हुए कल्याण को प्राप्त करना चाहिए।⁷⁷

4 शाण्डिल्यविद्या— महर्षि शाण्डिल्य द्वारा निर्दिष्ट ब्रह्मविद्या ही 'शाण्डिल्यविद्या' के नाम से जानी जाती है। इसके अन्तर्गत, यम-नियम-आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान तथा समाधि; योग के इन आठों अंगों का विस्तृत विवेचन होने के कारण इसे अष्टांगयोग भी कहते हैं। इन अष्टायोगांगों के साथ-साथ प्रसंगप्राप्त विविध नाडियों, चक्रों तथा प्राण-अपान आदि पंचप्राणों का विस्तृत विवेचन भी इस प्रकरण में किया गया है। शाण्डिल्यविद्या अथवा अष्टांगयोग का संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है—

4.1. यम— 'यम' का तात्पर्य आत्मनियन्त्रण अथवा धर्मसाधक नैतिक कर्तव्यकर्मों की शृंखला से है; जिसके अन्तर्गत आत्मोत्थान हेतु अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह की गणना की जाती है।⁷⁸ अमरकोश में भी 'यम' को परिभाषित करते हुये कहा गया है कि समाधिसिद्धि हेतु शरीर के द्वारा की जाने वाली साधना में अपेक्षित नित्य कर्मों को ही 'यम' के नाम से जाना जाता है।⁷⁹ महर्षि पतंजलि यद्यपि 5 प्रकार के यमों का उल्लेख करते हैं⁸⁰ किन्तु शाण्डिल्योपनिषद् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, दया, आर्जव, क्षमा, धृति, मिताहार तथा शौच के भेद से कुल 10 प्रकार के यमों का उल्लेख किया गया है।⁸¹

2. नियम— 'नियम' का तात्पर्य उन अनुष्ठानों या कर्तव्य कर्मों से है; जो 'यमों' की भाँति अनिवार्य नहीं होते हैं। नियमों का सम्बन्ध केवल अपने व्यक्तिगत शरीर, इन्द्रियों तथा अन्तःकरण के साथ होता है। इसलिये इनके यथार्थ पालन से व्यक्ति के जीवन से संबद्ध सम्पूर्ण राजसी, तामसी, विक्षेप और आवरण रूपी मलों के धुल जाने से व्यक्ति का हृदय

सात्त्विक, पवित्र और दिव्य बन जाता है। तप, सन्तोष, आस्तिक्य, दान, ईश्वरपूजन, सिद्धान्तश्रवण, ह्री, मति, जप और व्रत के भेद से नियमों की संख्या 10 बतलाई गयी है।⁸² यद्यपि महर्षि पतंजलि ने 5 प्रकार के नियमों का उल्लेख किया है।⁸³

3. आसन— 'आसन' का तात्पर्य उस शारीरिक स्थिति विशेष से है; जिसमें स्थिरता तथा सुख की प्राप्ति हो।⁸⁴ अर्थात् जिस रीति से स्थिरता पूर्वक बिना हिले-डुले और सुख पूर्वक, बिना किसी कष्ट के देर तक बैठा जा सके, उस शारीरिक मुद्रा विशेष को 'आसन' कहते हैं; जैसे— स्वस्तिकासन, सिद्धासन, पद्मासन, वीरासन, सिंहासन, भद्रासन, मुक्तासन, मयूरासन, गोमुखासन इत्यादि।

4. प्राणायाम— 'प्राण' और 'अपान' को इकट्ठा कर देना ही 'प्राणायाम' है। पूरक, कुम्भक तथा रेचक के भेद से यह तीन प्रकार का होता है।⁸⁵ महर्षि पतंजलि के अनुसार आसनसिद्धि के अनन्तर श्वॉस और प्रश्वॉस की गति को रोकना ही 'प्राणायाम' है।⁸⁶

5. प्रत्याहार— अपने अपने विषयों में विचरण करती हुई इन्द्रियों को बलपूर्वक खींचकर उन्हें उनके विषयों से अलग करना ही 'प्रत्याहार' है।⁸⁷

6. धारणा— मन को किसी विषय विशेष में अथवा स्थान (अंग) विशेष में कुछ समय तक लगाना ही 'धारणा' है। यह धारणा तीन प्रकार की होती है— 1. आत्मा में 'मन' की धारणा, 2. दहराकाश में 'बाह्य आकाश' की धारणा, 3. पृथ्वी, जल, तेज, वायु एवम् आकाश; इन पाँच तत्त्वों में पंचमूर्तियों की धारणा।⁸⁸

7. ध्यान— धारणा में चित्त, जिस वृत्ति से ध्येय में लगता है, वह जब लगातार बनी रहती है; अर्थात् बीच में कोई अन्य वृत्ति नहीं आती है, तब तक इस क्रिया को 'ध्यान' कहते हैं। सगुण और निर्गुण के भेद से यह ध्यान दो प्रकार का होता है। इसमें मूर्ति का ध्यान 'सगुण' है तथा आत्मस्वरूप का ध्यान 'निर्गुण' है।⁸⁹

8. समाधि— जीवात्मा और परमात्मा की एकता अनुभव करने से ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता; यह त्रिपुटीरहित परमानन्दस्वरूप और शुद्धचैतन्य अवस्था ही 'समाधि' कही जाती है।⁹⁰ महर्षि पतंजलि के अनुसार, ध्येय विषयक 'ध्यान' ही जब अपने ध्यानाकार रूप से रहित होकर ध्येयस्वरूप मात्र से अवस्थित होकर प्रकाशित होने लगे, तो वह 'समाधि' के नाम से जाना जाता है।⁹¹

सन्दर्भ (Reference) —

1. सत्यार्थप्रकाश (दयानन्द सरस्वती) 9.1.
2. सत्यार्थप्रकाश (दयानन्द सरस्वती) 9.1.
3. योगसूत्र ॥ 2.5 ॥
4. विद्यां चाऽविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतश्नुते ॥ ईशावास्योपनिषद् ॥ 11 ॥
5. ब्रह्म परमात्मा तद्यथा वेद्यते सा ब्रह्मविद्या ॥ बृहदारण्यकोपनिषद् शांकरभाष्य 1.4.9. ॥
6. द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च ॥ मुण्डकोपनिषद् 1.1.4. ॥
7. ब्रह्मविद्योपनिषद् ॥ 26-29 ॥
8. क्रियावन्तः श्रोत्रिया ब्रह्मनिष्ठाः स्वयं जुह्वत एकर्षि श्रद्धयन्तः।
तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णम् ॥ मुण्डकोपनिषद्, 3.2.10.
9. तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते ॥ मुण्डकोपनिषद् ॥ 1.1.5. ॥
10. अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः ॥ ईशावास्योपनिषद् ॥ 9 ॥
11. श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 18.49-55 ॥
12. अन्यदेवाहुर्विद्ययाऽन्यदाहुरविद्यया।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचक्षिरे ॥ ईशावास्योपनिषद् ॥ 10 ॥
13. किं कर्म किमकर्मेति कवयोप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यंज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 4.16 ॥
14. दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 18.8 ॥
15. विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।

- अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥ ईशावास्योपनिषद् ॥ 11 ॥
16. ब्रह्मसूत्र, शांकरभाष्य, अध्यास प्रकरण ॥
 17. छान्दोग्योपनिषद् ॥ 7.16-17 ॥ 8.1.4-6 ॥ 6.2 ॥
 18. तैत्तिरीयोपनिषद् ॥ भृगुवल्ली ॥ 6 ॥
 19. छान्दोग्योपनिषद् ॥ 3.19.1-4 ॥ 3.1-8 ॥
 20. छान्दोग्योपनिषद् ॥ 7.12.1-2 ॥ 8.14 ॥ बृहदारण्यकोपनिषद् ॥ 5.1 ॥
 21. छान्दोग्योपनिषद् ॥ 5.1.1-15 ॥ 7.15.1-4 ॥ कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद् ॥ 2 ॥
 22. छान्दोग्योपनिषद् ॥ 3.12 ॥ बृहदारण्यकोपनिषद् ॥ 5. 14 ॥
 23. छान्दोग्योपनिषद् ॥ 8.12 ॥ कौषीतक्युपनिषद् ॥ 3.1-8 ॥
 24. शाण्डिल्योपनिषद् ॥ सम्पूर्ण ॥ छान्दोग्योपनिषद् ॥ 3.1-14 ॥
 25. ब्रह्मविद्योपनिषद् ॥ 16-25 ॥
 26. कठोपनिषद् ॥ सम्पूर्ण ॥
 27. छान्दोग्योपनिषद् ॥ 4.10-15 ॥
 28. बृहदारण्यकोपनिषद् ॥ 3.4 ॥
 29. मुण्डकोपनिषद् ॥ 2.1 ॥
 30. छान्दोग्योपनिषद् ॥ 5.11-18 ॥
 31. छान्दोग्योपनिषद् ॥ 7.23-25 ॥
 32. बृहदारण्यकोपनिषद् ॥ 2.1 ॥ प्रश्नोपनिषद् ॥ चतुर्थ प्रश्न ॥
 33. प्रश्नोपनिषद् ॥ पंचम प्रश्न ॥
 34. ब्रह्मविद्योपनिषद् ॥ 2-12 ॥ तथा माण्डूक्योपनिषद् ॥ सम्पूर्ण ॥
 35. कठोपनिषद् ॥ 2.1.12 श्वेताश्वतरोपनिषद् ॥ 3.13 ॥
 36. बृहदारण्यकोपनिषद् ॥ 1.4 ॥
 37. छान्दोग्योपनिषद् ॥ 3.1-5 ॥ बृहदारण्यकोपनिषद् ॥ 2.5-6 ॥
 38. छान्दोग्योपनिषद् ॥ 4.3 ॥
 39. श्वेताश्वतरोपनिषद् ॥ 1.8-13 ॥
 40. बृहदारण्यकोपनिषद् ॥ 2.1 ॥
 41. बृहदारण्यकोपनिषद् ॥ 2.4 ॥
 42. छान्दोग्योपनिषद् ॥ 4.4-19 ॥
 43. छान्दोग्योपनिषद् ॥ 5.4-8 ॥ बृहदारण्यकोपनिषद् ॥ 6.2 ॥
 44. बृहदारण्यकोपनिषद् ॥ 5.5 ॥
 45. बृहदारण्यकोपनिषद् ॥ 4.1.4 ॥
 46. तैत्तिरीयोपनिषद् ॥ 2.1-5 ॥
 47. ईशावास्योपनिषद् ॥ 1 ॥
 48. बृहदारण्यकोपनिषद् ॥ 3.4-5 ॥
 49. यतो वाचो निवर्तन्ते । अप्राप्य मनसा सह ॥ तैत्तिरीयोपनिषद् ॥ 2.9 ॥
 50. शाण्डिल्योपनिषद् ॥ द्वितीय अध्याय ॥
 51. शाण्डिल्योपनिषद् ॥ 3.1 ॥
 52. शाण्डिल्योपनिषद् ॥ 3.2 ॥
 53. ब्रह्मविद्योपनिषद् ॥ 13-15 ॥
 54. ब्रह्मविद्योपनिषद् ॥ 42-46 ॥
 55. ब्रह्मविद्योपनिषद् ॥ 47-50 ॥
 56. सत्यार्थप्रकाश (दयानन्द सरस्वती) ॥ 1.5. ॥
 57. प्रश्नोपनिषद् ॥ 5 ॥
 58. छान्दोग्योपनिषद् ॥ 1.1-5 ॥
 59. माण्डूक्योपनिषद् ॥ सम्पूर्ण ॥
 60. तैत्तिरीयोपनिषद् ॥ 1.8 ॥
 61. श्वेताश्वतरोपनिषद् ॥ 1.3-14 ॥
 62. नादबिन्दूपनिषद् ॥ 1.1-2 ॥
 63. नारदपरिव्राजकोपनिषद् ॥ 8.1-23 ॥
 64. प्रणवोपनिषद् ॥ सम्पूर्ण ॥

65. ब्रह्मविद्योपनिषद् || 1-12 ||
66. यः सर्वमश्नुते न क्षरति न विनश्यतीति तदक्षरम् || सत्यार्थप्रकाश || 1.6 ||
67. ब्रह्मविद्योपनिषद् || 71-74 ||
68. ब्रह्मविद्योपनिषद् || 76 ||
69. शाण्डिल्योपनिषद् || 1-5 ||
70. शाण्डिल्योपनिषद् || 1.7.28-29 ||
71. ॐ अकारो दक्षिणः पक्ष उकारस्तूत्तरः स्मृतः ।
मकारं पुच्छमित्याहुरर्धमात्रा तु मस्तकम् ।।
पादादिकं गुणास्तस्य शरीरं तत्त्वमुच्यते ।।
धर्मोऽस्य दक्षिणं चक्षुरधर्मोऽथो परः स्मृतः ।।
भूर्लोकः पादयोस्तस्य भुवर्लोकस्तु जानुनि ।।
स्वर्लोको कटिदेशे नाभिदेशे महर्जगत् ।।
जनो लोकस्तु हृद्देशे कण्ठे लोकस्तपस्ततः ।।
भ्रुवोर्ललाटमध्ये तु सत्यलोको व्यवस्थितः ।। नादबिन्दूपनिषद् || 1-4 ||
72. ब्रह्मविद्योपनिषद् || 16-25 ||
73. ब्रह्मविद्योपनिषद् || 33-35 ||
74. ब्रह्मविद्योपनिषद् || 60-65 ||
75. ब्रह्मविद्योपनिषद् || 78-79 ||
76. ब्रह्मविद्योपनिषद् || 80 ||
77. ब्रह्मविद्योपनिषद् || 26-30 ||
78. अहिंसा-सत्यास्तेय-ब्रह्मचर्यापरिग्रहाः यमाः ।। योगसूत्र 2.30 ।।
79. शरीरसाधनापेक्षं नित्यं यत्कर्म तद्यमः ।। अमरकोश 10.10 ।।
80. तत्राहिंसा-सत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः यमाः ।। योगसूत्र 2.30 ।।
81. तत्राहिंसा सत्यास्तेयब्रह्मचर्यदयाऽऽर्जवक्षमाधृतिमिताहारशौचानि
चेति यमा दश ।। शाण्डिल्योपनिषद् ।। 1.1 ।।
82. तपःसन्तोषाऽस्तिव्यदानेश्वरपूजनसिद्धान्तश्रवणह्रीमतिजपप्रव्रतानि
दश नियमाः ।। शाण्डिल्योपनिषद् ।। 1.2 ।।
83. शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ।। योगसूत्र ।। 2.32 ।।
84. स्थिरसुखमासनम् ।। योगसूत्र ।। 2.46 ।।
85. प्राणापानसमायोगः प्राणायामो भवति, रेचक-पूरक-कुम्भकभेदेन
स त्रिविधः ।। शाण्डिल्योपनिषद् ।। 1.6.1 ।।
86. तस्मिन् सति श्वांसप्रश्वांसयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ।। योगसूत्र ।। 2.49 ।।
87. इन्द्रियेषु विचरतामिन्द्रियाणाम् बलादाहरणम् प्रत्याहारः ।। शाण्डिल्योपनिषद् ।। 1.8.8 ।।
88. आत्मनि मनोधरणं, दहराकाशे बाह्याकाशधारणं,
पृथ्व्यप्तेजोवाय्वाकाशेषु पंचमूर्तिधारणं चेति ।। शाण्डिल्योपनिषद् ।। 1.8.9 ।।
89. सगुणं मूर्तिध्यानम् । निर्गुणम् आत्मयाथात्म्यम् ।। शाण्डिल्योपनिषद् ।। 1.8.10 ।।
90. जीवात्मपरमात्मैक्यावस्थः त्रिपुटीरहिता परमानन्दस्वरूपाशुद्धचैतन्यात्मिका
भवति समाधिः ।। शाण्डिल्योपनिषद् ।। 1.8.11 ।।
91. तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ।। योगसूत्र ।। 3.3. ।।

(डॉ. मिथिलेश पाण्डेय)